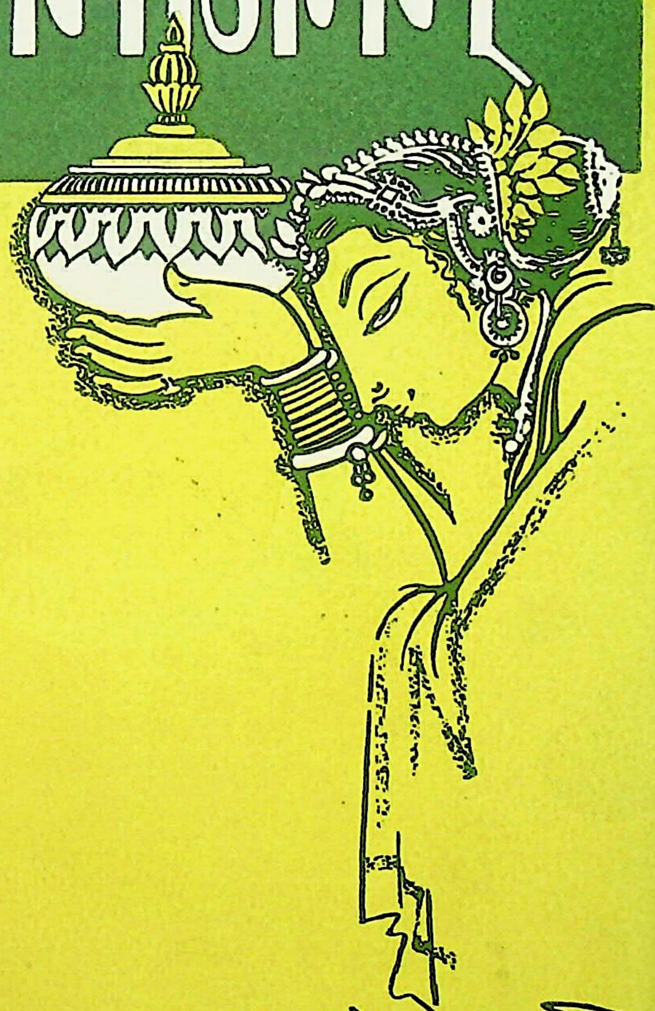
सुधाभोजनम्



सुधाभोजनम्

अशोककुमार कालिया
पी-एच०डी०

अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ

प्रकाशक
अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज
लखनऊ-२२६००१

मूल्य—रु० ६.२५
१९७४

मुद्रक
इण्डस्ट्रियल प्रिंटिंग वर्क्स,
२७३, रानी गंज, लखनऊ
फोन २६४१०



तदिदं तव पादपद्मयो-
र्गतयोस्संस्मृतिशेषतां पराम् ।
विनतेन मयाऽद्य केनचित्
कुसुमं तात! नवं समर्प्यते ।।

प्रकाशकीय

देवराज शक्र के चार कन्याएँ थीं—आशा, श्रद्धा, श्री और ह्री। चारों में यह विवाद छिड़ा कि उनमें से सर्वश्रेष्ठ कौन है। इसका समाधान उन्होंने पहले नारद से कराना चाहा, किन्तु नारद ने स्वयं कोई निर्णय न देकर उसके लिए उन्हें उनके पिता शक्र के ही पास भेज दिया। शक्र असमंजस में पड़ गये। उन्हें भय हुआ कि ऐसा न हो कि जिसे मैं सर्वश्रेष्ठ बतलाऊं उसे छोड़ अन्य तीनों मेरे निर्णय से असन्तुष्ट होकर मुझे पक्षपात का दोषी ठहराने लगें। उन दिनों महर्षि कौशिक बड़े पहुँचे हुए महात्मा थे और हिमालय पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। उनका नियम था कि कोई भी खाद्य या पेय पदार्थ वे तब तक ग्रहण नहीं करते थे जब तक उसमें से एक अंश किसी सत्पात्र को दे न दें। इसलिए शक्र ने अपनी चारों कन्याओं से कहा कि मैं कौशिक के लिए अमृत भेज रहा हूँ, तुम उन्हीं के पास जाओ, तुम में से जिसे उनके हाथ से सुधा-भोजन मिल जायगा वही सर्वश्रेष्ठ होगी। शक्र ने एक ओर तो इस प्रकार अपनी कन्याओं को अपने पास से विदा किया और दूसरी ओर एक पात्र में सुधा-भोजन रखकर उसे अपने सारथी मातलि के हाथ महर्षि कौशिक के पास भेज दिया। महर्षि ने यह निश्चय करने के लिए कि उसमें से किसे दिया जाय और किसे नहीं, उन चारों से कहा कि आप लोग पृथक्-पृथक् अपना-अपना गुण-गान करें, जिससे मैं आप लोगों में से प्रत्येक का गुण-दोष जान सकूं। इस पर आशा, श्रद्धा और श्री ने तो एक-एक करके अपने अपने गुणों का बखान करते हुए सुधा नामक उस श्रेष्ठ रस की याचना की, जिसे ग्रहण करने से, मातलि के ही शब्दों में, ये बारह बुराइयाँ दूर होती हैं— क्षुधा, पिपासा, अरति (असन्तोष), थकावट या सुस्ती. क्रोध, ईर्ष्या, विवाद, पैशुन्य, शीत, उष्णता तथा तन्द्रा; किन्तु जब ह्री (अर्थात् लज्जा) की बारी आयी तो उसने अपना नाम बतलाते हुए केवल इतना कहा कि "मैं सदा निष्पाप प्राणियों की संगति में रहती हूँ, अमृत-सम्बन्धी विवाद के कारण ही

आपके पास आयी हूँ ; किन्तु यह होते हुए भी मुझे आपसे अमृत माँगने में लज्जा आती है।" इस पर महर्षि यह कहकर कि "हे सुगात्रे ! अमृत का न मांगना ही धर्म है ; तुझ न माँगने वाली को ही मैं निमन्त्रित करता हूँ ; तेरी पूजा करके मैं शेष अमृत ग्रहण करूँगा " उसे अपने अत्यन्त रमणीक आश्रम के अन्दर ले गये। वहाँ बड़े आदर और श्रद्धा के साथ उसे सुधा-भोजन अर्पित किया। तदनन्तर इन्द्र के यह पुछवाने पर कि आशा, श्रद्धा और श्री के रहते हुए अमृत ह्री को ही क्यों दिया गया, महर्षि ने कहला भेजा कि श्री मुझे धनी प्रतीत हुई, श्रद्धा अनित्य और आशा संदिग्ध ; बस एक ह्री ही आर्योचित गुणों से सम्पन्न दिखलायी दी।" यह है संक्षेप में "सुधा-भोजन" जातक (जातक सं० ५३५) का वह अंश जिस पर "सुधा-भोजन" नाम्नी प्रस्तुत नृत्यनाटिका आधारित है।

सुधीजन के समक्ष इस "सुधा-भोजन" रूपक को प्रस्तुत करते हुए हमें वही प्रसन्नता हो रही है जो देवराज इन्द्र को सुधा और सुधा-पात्र के पारखी महर्षि कौशिक के पास वास्तविक सुधा-भोजन भेजते हुए हुई होगी। संस्कृत ग्रन्थों के प्रकाशन की दिशा में अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ का ध्यान इसके पूर्व केवल प्राचीन ग्रन्थों, उनके अनुवादों और उन पर लिखी गयी टीकाओं आदि की ही ओर था, यद्यपि इधर वहुत दिनों से वह इस प्रयत्न में भी थी कि रचनात्मक या सर्जनात्मक नूतन साहित्य के प्रकाशन की ओर भी कुछ अग्रसर हुआ जाय। उस दिशा में प्रस्तुत पुस्तिका का प्रकाशन परिषद् का प्रथम प्रयास है। आशा है परिषद् का यह प्रकाशन सत्साहित्य के पारखियों की तत्सम्बन्धी क्षुधा-पिपासा आदि का शमन करने में कुछ न कुछ सफल अवश्य होगा। यदि ऐसा हुआ तो परिषद् अपने इस प्रयास को सफल समझेगी और आगे के लिए उत्साहित भी होगी। पाठकगण यदि इस 'सुधा-भोजन" का रसास्वादन करके हमें अपनी तृप्ति का कुछ आभास दे सकेंगे तो उनकी बड़ी कृपा होगी।

बर्लिन की फ्री युनिवर्सिटी में भारतीय कला और पुरातत्त्व के प्राध्यापक तथा भारतीय कला के बर्लिन संग्रहालय के निदेशक, डॉ० हर्बर्ट हार्टेल (Dr. Herbert Hartel), जो इधर कई वर्षों से मथुरा जिले के सोंख नामक स्थान में पुरातत्त्वीय उत्खनन करा रहे हैं, परिषद् के सम्मान्य पारिषदों में हैं और उसे सदा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन की ओर प्रेरित और उत्साहित करते रहते हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने गत नवम्बर मास में परिषद् को पाँच सौ रुपये की एक राशि देकर कहा था कि इसे किसी अच्छे ग्रन्थ के प्रकाशन में लगाइएगा। प्रस्तुत

पुस्तक का प्रकाशन इस महत्त्वपूर्ण दान के बाद का प्रथम प्रकाशन है और उसके प्रकाशन में यह दान बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। परिषद् इसके लिए प्रोफेसर हार्टेल की अत्यन्त कृतज्ञ है, और आशा करती है कि वे इस पुस्तक को देख कर प्रसन्न होंगे। परिषद् को यह भी आशा है कि प्रोफेसर हार्टेल द्वारा दिखलाया गया मार्ग अन्य पारिषदों तथा हितैषियों के लिए प्रेरणा-प्रद सिद्ध होगा।

वसन्तपञ्चमी
स० २०३० वि०

गोपाल चन्द्र सिंह

FOREWORD

I have read the small composition called 'सुधाभोजनम्' by Dr. A.K. Kalia. It is a representation in Sanskrit, based on the Pāli Jātaka No. 535 bearing the same name. It is written in simple Sanskrit, in mixed prose and verse, as is the practice in Sanskrit dramas. The central feature of the piece is that the four daughters of Śakra, namely, आशा, श्रद्धा, श्री and ह्री approach the sage Kauśika and ask him for a portion of the Amṛta (Nectar) which Śakra has sent to him to be given to the one whom he judges to be the best among them. He gives it to ह्री after having set aside the claims of the other three with reasons. In the present-day fast changing India, Kauśika's judgement is sure to arouse much interest. Dr. Kalia has by means of his simple Sanskrit, managed to catch the spirit of the Jātaka and made the sense easily intelligible, not only to those who know Sanskrit but also to those who know Hindi only. I hope that this representation will one day be staged.

January 1, 1974
Lucknow. K.A. Subramania Iyer

प्रास्ताविकम्

समग्रेऽपि भारतीये साहित्ये पालिसाहित्यस्य महनीयं स्थानम् । संस्कृतिधर्मदर्शनाऽऽदिभिः समवेष्टितमिदं काव्यगुण-विशिष्टमतिप्राचीनं साहित्यं मानवजीवनस्य व्याख्यानरूपमिव सहृदयहृदयानि नितरामावर्जयति । एतस्यामेव पालिभाषायां निबद्धं जातकसाहित्यं सर्वेषामपि भारतीयवाङ्मयप्रणयिनां परिज्ञातमेव । तत्र जातकेष्वन्यतममिदं सुधाभोजनसंज्ञकं जातकम् । इदमेव जातकमधिकृत्य रूपकमिदं स्वरूपसज्जितम-भूत् । जातकस्थाया वृहत्कथाया एकदेश एवाऽत्र रूपककथात्वे-नाऽङ्गीकृतः । सा चैकदेशकथाऽपि यत्र कुत्रचित् संशोधिता परिवर्द्धिता परिवर्तिता च ।.तथा करणे स्वारस्यमेव हेतुः ।

विपुलमिदं जातकसाहित्यम् । ततः सुधाभोजनकथाया अङ्गीकारे को हेतुरिति चेद् वस्तुतो जातकसाहित्यविपुलतायां तन्महिम्नि च न कश्चित् सन्देग्धि । सर्वस्याऽप्यङ्गीकारेऽशक्तः कश्चिदेकदेशपरायणो भवति चेत् तेन शिष्टस्य हीनत्वं न शङ्कनीयम् । समग्रमपि जातकसाहित्यं सर्वदा प्रेरणाप्रदं शिक्षाप्रदं मनोहरं चाऽस्ति । एतच्च सुधाभोजनजातकं सहृदयमनांसि विशेषतया संस्पृशति । पूर्वं प्रतिपादित-मेवाऽस्माभिर्यदेषा जातककथा विषयदृष्ट्याऽऽकारदृष्ट्या च तुन्दिलैव । रूपकमिदं वीक्ष्य पर्यालोच्य च जातकस्वरूपाऽनुमानं निर्दुष्टं न सम्भवति ।

समग्रस्याऽपि मानवव्यवहारस्य नियामिकाः—आशा श्रद्धा श्रीर्ह्रीश्चेत्येताश्चतस्रः प्रवृत्तयः । एतासु प्रवृत्तिषु काऽसौ प्रवत्तिर्या मानवजीवनं संस्कर्तुं प्रभवति । आशया सर्वोऽपि

जनः किं किं न समाचरति सर्वदा फलमपि नाऽधिगच्छति कदाचिच्चाऽनिष्टमप्यापद्यते । श्रद्धया प्रेरिता जना यत्र कुत्रचिच्छ्रद्दधाना समपक्षपातराहित्येन करणीयाऽकरणीय-विवेकविरहिताः श्रद्धाजाड्यतया निष्पक्षं नाऽचरन्ति । श्रिया तु सदसती न विविच्येते । अयोग्याः कुमार्गाऽवलम्बिनश्च जनाः सर्वसम्पत्सम्पन्ना दृश्यन्ते । ये खलु योग्या सन्मार्गगामिनश्च जनाः ते तया तिरस्कृताः सन्ति । यया कयाचित् प्रवृत्त्या प्रेरितो जनो यदाऽकार्यं चिकीर्षति तदा ह्रीरेव तं निवारयति । ह्रीरेव सर्वत्र मर्यादाहेतुः । इत्थं तस्या एव माहात्म्यं प्रकृष्टं वर्तते । अयमेवैतस्य सुधाभोजनरूपकस्य साधनीयांशः ।

भावरूपा अमूर्ताश्चैताः प्रवृत्तय एवाऽत्र शक्रकन्या उक्ताः । एताः शक्रकन्या भावरूपा एवेति संशयमुखेन प्रतिपादितमस्मिन् रूपके—

विचारभूता नु सुचारुविग्रहा
नु रम्यवेशाः पुरुषप्रवृत्तयः ।
प्रपञ्चभूता उत सत्यसंस्थिताः
स्वरूपमासामनिरूप्यमाततम् ॥ [1]

स्वरूपं चैतासां रूपकभूमिकायामेवं निरूपितम्—

सकलास्त्वर्थसमनुक्तसंज्ञाः
श्रीरिति चपला तरुणी ।
छलिनी श्रद्धा मरीचिकाऽऽशा
ह्रीस्सुतटी निर्झरिणी ॥ [2]

एवममूर्तपदार्थानां भावरूपाणां मानवीकरणमत्र रूपके वर्तते । कालिदासादीनां महाकवीनां कृतिष्वप्येतादृशा नूत्नाः प्रयोगा दृश्यन्ते । यथा मेघस्य दौत्यम्, नदीनां लताऽऽदीनाञ्च नायिकास्वरूपत्वम्, लतापरिवेष्टितवृक्षस्य दम्पतिस्वरूपत्वञ्च एतादृशा बहवः प्रयोगाः सन्ति । किन्त्वन्तरं तु स्पष्टं वर्तते ।

---

१. सुधाभोजनम्, २-१७
२. सुधाभोजनम्, १-१७

अत्राऽमूर्तानां भावपदार्थाना तत्र च कालिदासाऽऽदीनां कृतिष्वचेतनानां पदार्थानां मानवीकरणमस्ति। उभयत्राऽपि प्रतीकविधानत्वे सत्यपि महदन्तरं वर्तते। यत्राऽमूर्तानां भावपदार्थानां मानवीकरणं भवति तानि नाटकानि संस्कृत-साहित्ये प्रतीकनाटकानि (Allegorical Dramas) उक्तानि यद्यपि ये केचन विद्वांसो रूपकनाटकानीमानीत्येवं वदन्ति।[१] किन्तु संस्कृतज्ञानां कृते तथा प्रतिपादनं सर्वथोपहास्यमेव। यतो हि सर्वाण्यपि नाटकानि स्वाऽधिकारतो रूपकाणि भवन्त्येव। तथा सति रूपकनाटकमिति कथने को वा विशेषः। यद्यपि प्रतीकनाटकमित्यपि संज्ञा न चारुतमा तथाऽपि संज्ञान्तराऽभावे प्रतीकनाटकमित्येव वक्तव्यं स्वल्पदोषत्वात्।

यद्यपि प्रतीकविधानमिदं (अमूर्तानां भावपदार्थानां मानवीकरणम्) ऋग्वेदादारभ्य दृश्यते तथाऽपि तदाश्रित्य नाटकानां प्रादुर्भावोऽर्वाचीन एव। संस्कृतसाहित्ये प्रतीक-नाटकानां महती बृहती च परम्परा वर्तते। प्रबोधचन्द्रोदय-सङ्कल्पसूर्योदयसदृशानि नाटकरत्नान्यत्रैवाऽन्तर्भवन्ति। अत्र सर्वत्र दार्शनिका विषया एव प्रायेणोपनिबद्धाः।

सम्प्रत्यन्यो विचारणीयः प्रश्नस्त्वयम्—किं वा सुधाभोजन-संज्ञकं रूपकमिदं वस्तुतः प्रतीकात्मकमेव। यद्यप्यत्राऽमूर्तपदार्थानां मानवीकरणत्वेन प्रतीकात्मकत्वसत्त्वेऽपि मातलिनारदकौशिकानां मूर्तपदार्थानां सत्तया तेषां प्रतीक-विधानाऽभावात् सर्वथा प्रतीकात्मकत्वं नाऽस्य संघटते, अपि तु मिश्रविधत्वमेव प्रतिभाति तथाऽप्यत्र मानवीकृतानाममूर्त-पदार्थानामाशाश्रद्धाश्रीह्लीणां प्राधान्याद् महनीयत्वाच्च मूर्तानां तेषां च गौडत्वादस्य रूपकस्य प्रतीकत्वे न किमप्यनौचित्यं प्राधान्याऽनुरोधेन संज्ञाया विधानात्। मिश्रत्वस्याऽत्र चर्चा नोचिता तथाविधव्यवहारस्याऽप्रसिद्धत्वात्। अतोऽस्य प्रतीकात्मकत्वे न सन्देहलेशः।

---

१. डॉ० सरोज, प्रबोधचन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा, द्वितीय अध्याय

रूपकं दशप्रकारकम्। कुत्र वा प्रकृतायाः कृतेरन्तर्भावः? इति चेद् हन्त विंशतितमायां शताब्द्यामप्ययं प्रश्नः। अद्यतने समये प्रतिदिनं नाट्यप्रकाराणां विकासो भवति। रचनाक्षेत्रे तत्प्रयोगक्षेत्रे च महती क्रान्तिरिव दृश्यते। अतोऽस्त्यन्तर्भावश्चेद् दशरूपकेषु तर्हि सुन्दरमिदम्, नाऽस्ति चेत् तर्हि सुन्दरतरमिदम्। वस्तुतोऽन्तर्भावस्याऽनन्तर्भावस्य च प्रश्न ऐतिहासिकः। सम्प्रति तु तादृशाः प्रश्ना अप्रासङ्गिका एवेति कृत्वाऽस्माभिः रूपकमिदमित्येवोच्यते। रूपकत्वे चाऽस्य नाऽस्ति संशयकणिकाऽपि।

शान्तरस एवाऽत्र प्रधानः। ननु,

अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः[१]

इति भरतमतरीत्या शान्तो रसः शशशृङ्गभूतः। अयमपि विचारो नाऽतीवोपयोगी। प्राचीनैराधुनिकैश्च मनीषिभिरस्मिन् विषये बहुविचारितम्। शान्तरसत्वपक्षपातिनः प्रचुरतरास्तत्र। अथ च शान्तो रसो नाऽस्तीत्येव साध्यते चेत् तेन का वा प्रतीकनाटकानां हानिः। यद् भरतेन नोक्तं तन्नाऽस्तीति तर्कः कुतर्क एव। एषा महती प्रतीकनाटकपरम्परा भरतेनोक्तस्याऽनुक्तस्याऽपि वा शान्तस्य रसत्वं साधयितुं सुतरां क्षमा। इत्यतः शान्तो रसोऽत्र प्रधान इति कथने नाऽस्ति कश्चिद् विरोधः।

अलमति प्रपञ्चितेन। दोषाऽदोषविवेकशालिनः सहृदयसामाजिका एवाऽत्र तत्त्वतः प्रमाणम्—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा ॥[२]

इति महाकविनिर्दिष्टभावनयैव यत्किञ्चिदस्माभिः प्रस्तूयते। अन्ते च—

---

१. नाट्यशास्त्रम् ६-१६
२. रघुवंशम्, १-१०

गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नाऽस्ति निष्कृतिः ॥[१]

इत्यतो यैः सहृदयवर्यैरस्माकं प्रियं सम्पादितं तानुद्दिश्य कृतज्ञतानिवेदनमस्मदीयं परमं कृत्यम् । प्रो०को०अ० सुब्रह्मण्य अय्यरमहाभागैः समग्रमपि रूपकमिदं पर्यालोच्य यथा प्रेरणाप्रदैः स्वकीयैर्वचनैर्महदुपकृतमस्माकम्, यथा च लखनऊ-विश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागाऽध्यक्षैः डॉ० सत्यव्रतसिंहमहा-भागैः सहृदयशिरोमणिभिः समये समये प्रोत्साहिता वयम्, तन्निष्कृतिः कथं वा कतिपयैरेव शब्दैः सम्भाव्यते । श्रद्धानिवेदनमेवाऽस्मदीयं सर्वस्वम् । तदेव समर्प्यते तेभ्यो मयाऽकिञ्चनेन विदुषां वशंवदेन । अखिलभारतीयसंस्कृत-परिषदा स्वकीयनूतनयोजनायां सर्वप्रथममस्मदीयैव कृतिः प्रकाशनार्थमङ्गीकृता । तदर्थं परिषदो मन्त्रिवर्याः श्रद्धेयाः श्रीगोपालचन्द्रसिंहमहाभागा एव धन्यवादाऽर्हाः ।

सी-१०, विवेकानन्दपुरी,
लखनऊ-२२६००७ अशोककुमार कालिया

१. रामायणम्, किष्किन्धा, ३४-१२

पात्राणि

* सूत्रधारः
* नटी
* श्रीः (शक्रकन्या)
* श्रद्धा (शक्रकन्या)
* आशा (शक्रकन्या)
* ह्रीः (शक्रकन्या)
* नारदः (महर्षिः)
* मातलिः (शक्रसारथिः)
* कौशिकः (महर्षिः)



सुधाभोजनम्

पूर्वाङ्कः

धरति हृदि सदाऽम्बां यस्स्वशक्तिं नटीं तां
चिदचिदखिलनाट्यस्याऽऽदिमस्सूत्रधारः ।
नटति सकललोको यस्य सङ्कल्पलेशाद्
विहरतु हृदि रङ्गे रङ्गनाथो यथेच्छम् ॥१॥

सति च जगति रुद्धे सर्ववैयर्थ्यवादा-
दगतिरिव मनुष्यश्चाऽद्य तुच्छत्वनादात् ।
निरवधिकरुणायास्सागरस्त्वञ्च बुद्ध !
दिशि दिशि दिश वर्त्म श्रेयसां भूयसां नः ॥२॥

जगति जीवने सत्त्वेऽसत्त्वे
सती निराशा सत्यं दुःखम्
सर्वं दुःखं सर्वं दुःखम्
हरिं श्रितिं दिश माम्

कथय सखि ! हरिवसतिं दयिताम् ।
किमपि सखि ! मधुरं मधुरं माम् ॥३॥

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः (नेपथ्याऽभिमुखमवलोक्य) अलम्,
अलमलङ्क्रियतां प्रियसज्जया
सुमुखि ! रङ्गमिदं गतलज्जया ।
विरहितं यदिदं हि यतस्त्वया
न खलु रङ्गमिदं बत चत्वरम् ॥४॥

नटी (प्रविश्य)

एषा चोपस्थिताऽऽहूता भवता हर्षमांसला ।
यथेच्छमादिशत्वाऽऽर्यः किं प्रियं करवाण्यहम् ।।५।।

सूत्रधारः अवगता सकला करणीयता
ननु तवाऽस्ति तथाऽपि तदुच्यते ।
प्रियमुपक्रमणीयमिति त्वया
सहृदयेङ्गितया समनुज्ञया ।।६।।

नटी महत्सौभाग्यमस्माकं प्रेष्ठाऽभिनयमालिनाम् ।
किञ्चिदाज्ञापयन्तीति सहृदयाः मधुप्रियाः ।।७।।

सूत्रधारः अकविताऽऽदिभिस्त्वद्य दुःखितं शष्कुलीद्वयम् ।
कविताप्रमुखं किञ्चित् प्रयोक्तव्यं च रूपकम् ।।८।। इति ।

नटी सदृशमिदं सहृदयसामाजिकानाम्—

आम्रमञ्जरिमद्यं तन् मादयतीव षट्पदान् ।
कवितावनितामद्यं कं वा सहृदयं विना ।।९।।

अथ कस्य कां वा कृतिं प्रयोक्ष्यन्त्यत्रभवन्तः ?

सूत्रधारः शोकस्याऽतिशयो यस्य त्वशोकत्वस्य कारणम् ।
अशोकस्य सशोकस्य कृतिस्तस्य वृता मया ।।१०।।

(नेपथ्याऽभिमुखमवलोक्य) अहो, अस्मन्निर्देशसमनन्तरमेव समुद्यताः कुशलाः कुशीलवाः ।

नटी सत्यम् । अहो प्रकृतेः रामणीयकम् । पश्यतु भवान् एताः शक्रकन्या आशाश्रद्धाश्रीह्रीसंज्ञा एतस्मिन्ननवतप्तसरसि स्वच्छन्दं विहरन्ति ।

सूत्रधारः अथ च सर्वोऽप्ययं परिसरो दिव्यतयाऽऽक्रान्त इव लक्ष्यते । सेयं दिव्यता क्वचित् सौन्दर्यरूपाऽऽपन्ना क्वचिच्च सुरभिरूपाऽऽपन्ना नेत्राभ्यां नासिकया चाऽन्तः प्रविशतीव । (विचिन्त्य) भवती तु संगीततत्त्वज्ञा । तदिदमेवाऽर्थजातमधिकृत्य किञ्चिद् गीयतामत्रभवत्या ।

नटी तथा भवतु । (इति गायति)

अत्र रमन्ते दिव्ययुवतयः ।
सरसिजनयनाः सरसिजवदनाः
सरसिजतनूव्रततयः ॥११॥

सकलास्त्वर्थसमनुक्तसंज्ञाः
श्रीरिति चपला तरुणी ।
छलिनी श्रद्धा मरीचिकाऽऽशा
ह्रीस्सुतटी निर्झरिणी ॥१२॥

हंसशिञ्जिते लहरिनर्तने
कीचकतानसमीरे ।
अलिकुलकलकलकलिते गीते
सङ्गीतकवति तीरे ॥१३॥

पुलकितजघनपुलिनबहुचपले
सरसे सरसि सुकूले ।
उरसिजसरसिजसज्जितसलिले
भ्रमरकुले ह्यनुकूले ॥१४॥

अप्सरसामप्सरणप्रसरः
सरःपरिसरः सरसः ।
हृदयं हृदयं हन्त हरन्तं
नुमो वसन्तं सरसः ॥१५॥

अत्र रमन्ते दिव्ययुवतयः ।

सूत्रधारः अहो मधुरं खलूपन्यस्तमत्रभवत्या,

त्वदीयं गीतमाधुर्यं पिबन्तीवेन्द्रियाणि मे ।
मनश्शिलातलं मन्ये गीतरागेण रञ्जितम् ॥१६॥

(नेपथ्ये हासश्रीः)

नटी अहो,

इत एवाऽभिवर्तन्ते सकलाः कृतकेलयः ।
मनश्शिलातलं मन्ये सनाथयितुमुद्यताः ॥१७॥

(ततः प्रविशन्ति शिञ्जन्नूपुराः सहासाः शक्रदुहितरो निष्क्रान्तौ च नटीसूत्रधारौ)

श्रीः अहो अनवतप्तसरसो रामणीयकम् । तत्राऽप्यलिकुलाऽऽकुलसरसिजानां यौवनश्रीः ।

श्रद्धा ननु श्रूयते सरसिजदलैः रजन्यां निरुध्यन्ते शिलीमुखाः । अथ चैतेषां सरसिजानां कर्दमे जन्मेति । तत्र को वा विशेषः ? (श्रियमुद्दिश्य) अथ किं भवती पश्यति ?

श्रीः
किमपराद्धमहो न्वधिकारिभिः
सरसिजं यदुपेक्ष्य रतानपि ।
निजपदं कुरुते सखि ! कर्दमे
त्रिभुवनश्रियमत्र दिदृक्षया ।।१८।। इति ।

श्रद्धा भवतु । मया त्वेवं चिन्त्यते—

सरसिजं त्वतिमुग्धमिवेच्छया
सहृदयानितरान् सुवहूनपि ।
अविगणय्य मधुव्रतधारिणे
हृदयमर्पयतिच्छलरूपिणे ।।१९।। इति ।

आशा
भवतीभ्यां यदेवोक्तं दुरुक्तं तद्धि मे मतम् ।
युक्तं स्यान्नु यदेवोक्तं तदेवं श्रूयतां वचः ।।२०।।

शलभवृत्तिवशः प्रणयाऽनले
मधुकरो मकरन्दमदाऽऽशया ।
सरसिजे लभते दृढवन्धनं
शृणुत हा सरसीरुहवैभवम् ।।२१।।

(ह्रियमुद्दिश्य) कथं भवती मौनमालम्ब्य तिष्ठति । एतस्मिन् विषये किं भवत्या विवक्षितमिति ?

ह्रीः किं वाऽहं वक्तुं क्षमा । तथाप्येवं चिन्तयाम्यहम्—

अविरतं निरतं भ्रमरं दिने
समवलोक्य पराङ्मुखया तया ।
नलिननायिकया रजनीमुखे
कृतमहोऽतिदृढं भुजबन्धनम् ।।२२।।

(श्रवणमभिनीय) अहो वीणाध्वनिरिव !

(नेपथ्ये वीणाध्वनिः)

सर्वाः (श्रवणं नाटयन्त्यः) अहो अतिमधुरा अतिस्निग्धेयं स्वरलहरी। दिव्यं खलु लालित्यमेतस्याः।

आशा श्रूयते कलगीतमपि।

श्रीः अहो माधुर्यम्।

(नेपथ्ये गीतकम् सर्वाः श्रुतिमभिनयन्ति)

सत्त्वप्रश्ने हरिरिति शरणम्
अर्थप्रश्ने हरिरिति शरणम्
हरिरिति शरण हरिरिति शरणम्
हरिशरणं नितराम्
कथय सखि ! हरिवसति दयिताम्
किमपि सखि ! मधुरं मधुरं माम् ॥२३॥

(नेपथ्ये गायन मन्दं प्रचलति)

श्रद्धा (काञ्चिद् दिशं प्रति वीक्ष्य) पश्यन्तु भवत्यः, आकृतिरिव दृश्यते।

श्रीः को वा भवेत् ?

आशा को वा भवेत् ?

श्रद्धा ज्योतिर्गृहं किञ्चिदिदं नु मन्ये

आशा सत्यं तथा, ज्योतिरधूमकं तत्।

श्रीः ज्योतिर्मयी मूर्तिरिवाऽथवा किं
मन्दं न्यसन्ती स्वपदं क्षितौ सा ॥२४॥

आशा अहो तन्त्रीवादनकौशलम्।

श्रीः अहो गीतमाधुर्यम्।

ह्रीः तेजोराशिविशिष्टायामाकृतावपि तन्त्रीवादनकौशलेऽपि गीतमाधुर्येऽपि सर्वत्र भक्तिरेव केन्द्रस्था। एतेन तु भगवतो नारदस्यैव चित्रमाविर्भवतीव।



श्रीः सुष्ठु तर्कितं भवत्या । महर्षिर्नारदोऽयम् ।

श्रद्धा अहो महर्षिनीरदः ।

(गीतवीणाध्वनिः पुनः स्पष्टं श्रूयते)

आशा अये ! उपस्थितोऽत्रभवान् तपोधनसर्वस्वः । तदेनं प्रत्युद्गच्छामः ।

(उपगच्छन्ति, विरमति च सङ्गीतकम्)

आशा आशाऽहं भगवन्नेषा भवन्तमभिवादये ।

श्रद्धा एषाऽहं भगवन् श्रद्धा सश्रद्धमभिवादये ।।२५।।

श्रीः श्रीरिति शक्रकन्याऽहं भगवन्नभिवादये ।

ह्रीः अभिवादयते काचिद् ह्रीरियं भगवन्नता ।।२६।।

नारदः (प्रविश्य) स्वस्ति,

स्वस्ति सुवर्णवल्लीभ्यो भवतीभ्यस्तथा पुनः ।
समभिलषितं स्वीयं लभन्ताञ्च यथामतम् ।।२७।।

सर्वाः अनुगृहीताः स्मः ।

श्रीः कुतूहलेन पृच्छामः पाणौ किमिति धार्यते ।
अस्माभिस्तु स्पृहा यस्य कथञ्चिदपसार्यते ।।२८।।

नारदः सौन्दर्यं सन्नताङ्गीनां सौन्दर्याऽतिशयाऽन्वितम् ।
पारिजातमिदं पुष्पं लोके ख्यातं सुदुर्लभम् ।।२९।।

श्रद्धा कदाऽपि कस्मैचिदिदं भवद्भिः
प्रकल्पितं चेन्न हृदि प्रसूनम् ।
अनुग्रहाऽऽश्लिष्टहृदा तदा नः
प्रदातुमर्हन्ति मुने ! भवन्तः ।।३०।।

नारदः किमस्मदीय प्रयोजनमेतेन । गृह्यतामिदम् । किन्तु,

यूयं चतस्रः कुसुमं तदेकं
प्रदातुकामोऽपि न चाऽस्मि शक्तः ।
युष्मासु या श्रेष्ठतमा सुगात्री
यथेच्छमङ्गीकुरुतादिदं सा ।।३१।।

(सर्वाः सकुतूहलं परस्परं पश्यन्ति)

आशा वयं नु लोकस्थितिहेतुहेतवस्
तथा प्रशंसन्ति जना अहर्निशम् ।
अतर्किता किन्तु निजस्वरूपता
कथं नु विद्मो वयमुत्तमाऽधमम् ।।३२।।

श्रीः रूपे गुणे श्रेष्ठतमा हि सर्वाः
कस्य स्वरूपं न पुनः सुचारु ।
निर्दोषताऽऽलिङ्गितचित्तवृत्तैर्
निर्णायकैर्भाव्यमतो भवद्भिः ।।३३।।

नारदः सत्यमुक्तं भवत्या ।

रूपे गुणे श्रेष्ठतमा हि सर्वाः
कस्य स्वरूपं न पुनः सुचारु ।
निर्णेतुमद्यैव गुणाऽगुणं वः
किन्त्वस्म्यशक्तः कलहाऽऽदिभीत्या ।।३४।।

आशा तर्हि कञ्चनान्यं निर्णयमार्गं निर्दिशत्वत्रभवान् ।

नारदः देवेष्वदेवेषु च सत्प्रतिष्ठः
शक्रः पिता वः स सखा मदीयः ।
पृच्छन्तु तं वेत्ति पिता हि सम्यग्
दोषानदोषान्निजसन्ततीनाम् ।।३५।।

श्रद्धा सत्यमुक्तमत्रभवद्भिः । अस्मदीयान् गुणानवगुणांश्च पिता समीचीनतया जानाति । आगच्छत, पितरं प्रत्युद्गच्छामः । स एव निर्णेष्यति । (सर्वा निर्गच्छन्ति)

इति पूर्वाङ्कः

उत्तराङ्कः

(ततः प्रविशति सुधाभाजनहस्तो मातलिः)

मातलिः सोऽहं देवसारथिर्मातलिर्भगवतः कौशिकस्याऽऽश्रमं व्रजामि ।
(इति गमनत्वरां नाटयति)

(नेपथ्ये)

आर्य मातले !

मातलिः (श्रवणमभिनीय) किं ब्रूते भवान् ? कुत्र प्रस्थितोऽस्मीति ? भगवतः कौशिकस्याऽऽश्रममुद्दिश्य प्रस्थितोऽस्मि । (आकाशे) किं पृच्छति भवान्— किं निमित्तमिति ? श्रूयतामत्रभवता—

युष्माकं यो नियतमिह तान् वेत्त्यशेषान् विशेषान्
गत्वा शक्रं तमपि पितरं प्रष्टुमर्हा भवत्यः ।
उक्ता इत्थं प्रियदुहितरः कोपिता वर्णमत्ताः
सम्प्राप्तास्तं कलहमतिना प्रेरिता नारदेन ।। १ ।।

(श्रुतिमभिनीय) ततस्ततः ? ततस्तदानीं देवाऽधिपतिः शक्रो विचिन्तयामास—चतस्रोऽप्येता मदीयाः कन्यकाः । काञ्चिदेकामुत्तमां गुणवतीं च कथयामि चेदन्याः क्रुद्धाः स्युः । नाऽहमतो निर्णये समर्थः । हिमालयवास्तव्यस्य भगवतः कौशिकस्य सन्निधावेताः प्रेषयामि । स एव निर्णेष्यतीति विचिन्त्याऽवोचत्—

सुधामयं भाजनमेष मातलिस्
तपस्विने नेष्यति कौशिकाय सः ।
ततो भवत्योऽपि कुतूहलाऽन्विता
व्रजन्तु सर्वास्तुहिनालयाऽऽश्रमम् ।। २ ।।

अथ च—

असौ महाऽरण्यचरो महामुनिः
प्रदाय भक्ताय सदा भुनक्ति सः ।
विचार्य दानानि ददाति कौशिको
मुनीशमान्याऽऽसु यका सका वरा ।। ३ ।।

(आकाशे) किं किमुच्यते ततस्तत इति । ततो मामुद्दिश्यैवमुक्तं महेन्द्रेण—

हिमालये देवतरङ्गिणीतटे
स कौशिको दुर्लभपानभोजनः ।
तपोरतस्तिष्ठति देवसारथे !
सुधेयमस्मै भवता प्रदीयताम् ।। ४ ।।

(आकाशे) भवतु, अलमतिप्रश्नेन । देवकार्येषु विलम्बो मा भूत् । प्रस्थितोऽहम् । सम्प्रत्युपशाम्यतु भवान् (इति निष्क्रान्तः)

(कौशिकाऽऽश्रमः)

मातलिः (प्रविश्य)

तपोवनमिदं रम्यं दिव्या चाऽत्रत्यचारुता ।
बाह्यमाभ्यन्तरं सर्वं पूतं दर्शनमात्रतः ।। ५ ।।

अहो न्वाश्रममहिमा—

दुर्दान्तैर्मृगयूथपैर्निरसितो हिंसास्वभावो निजः
कालुष्यं मनुजास्त्यजन्ति विरसां पश्यन्ति संसारताम् ।
सोऽहं सम्प्रति विस्मृतोऽस्मि सहसा यन्मातलिर्मातलिर्
मिथ्या वक्ति विचक्षणः प्रकृतयो लोकैर्निजा दुस्त्यजाः ।। ६ ।।

(परिक्रम्याऽवलोक्य) एष दिव्यविग्रहो भगवान् कौशिकः । योऽसौ—

अलौकिकी या प्रतिमेव राजते
विराजते वाऽप्रतिमेव दिव्यता ।
धुरि स्थितस्तत्र महानयं मुनिर्
महस्स्वरूपो महनीयकौशिकः ।। ७ ।।

अथ च—

अग्निहोत्रं समाप्याऽसौ सूर्योपासनतत्परः ।
सुधामर्पयितुं मन्ये सोऽयमवसरः शुभः ।। ८ ।।

(इति समीपं गत्वोपासनार्थं कौशिकस्य बद्धाऽञ्जलौ सुधाभाजनं संस्थाप्यैकतस्तिष्ठति)

कौशिकः (नयने उन्मील्य स्वाऽञ्जलौ तद्भाजनमवलोक्य साऽऽश्चर्यम्)
अहो ! आश्चर्यम्

अतर्कितं तन्नितरामकाङ्क्षितं
अयाचितं सम्प्रति हस्तगं किम् ?
प्रसादतो वा दययाऽथ धर्मतः ।
क एष मह्यं प्रददौ कुतः कथम् ॥ ९ ॥

अथ च,

उपासमाने मयि चाऽऽस्थया तया
प्रभाकरं लोकतमोऽपहारिणम् ।
अहो किमेतत् समुपागतं कुतः
समर्पितं किं प्रणयाद् विडौजसा ॥ १० ॥

मातलिः (उपगम्य प्रणम्य च)

उपागतं मां भगवंस्तवाऽन्तिके
महेन्द्रदूतं समवेहि मातलिम् ।
त्वदर्पणार्थं समनुज्ञया प्रभोः
सुधामनैषं प्रतिगृह्यतां त्वया ॥ ११ ॥

हिनस्ति दुःखं निखिलं जराऽऽदिकं
हिनस्ति पापं निखिलं चतुर्विधम् ।
निशम्य चेत्थं सकलान् सुधागुणान्
रसोत्तमं तत् प्रतिगृह्यतां त्वया ॥ १२ ।

कौशिकः (सश्रद्धम्) शक्रस्येदमुपायनम् । युज्यत एतन् महाऽनुभावस्य—
अवैमि शक्रं मयि बद्धसौहृदं
न केवलं विक्रमविश्रुतं ततम् ।
प्रियैर्गुणैश्चाऽपि यदीयमन्वितं
यशोऽत्यतिष्ठत् पृथिवीं दशाऽङ्गुलम् ॥ १३ ॥

किन्तु,

प्रदाय भोक्तव्यमिति व्रतं यतस्
ततो न भोक्तुं प्रभवामि मातले !
अथाऽपि नैकाऽशनमार्यपूजितं
ह्यसंविभागी च सुखं न विन्दति ॥ १४ ॥

(नेपथ्ये नूपुरध्वनिः)



मातलिः (अवलोक्य कौशिकं प्रति)

श्रुत्वा त्वदीयव्रतमागतास्ताः
कन्याश्चतस्रोऽपि पुरन्दरस्य ।
भोक्तुं प्रदायैव ततोऽर्हसि त्वं
सङ्कल्पितं स्याद् वितथं कथं वा ।। १५ ।।

(इति प्रणम्य निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशन्ति शिञ्जन्नूपुराः शक्रदुहितरः)

श्रद्धा एषा सा तपोभूमिः ।

आशा अहो नु महिमा ।

श्रीः (सविस्मयम्)—

समग्रसंसारनियन्त्रणक्षमं
तदस्मदीयं विततं प्रभुत्वकम् ।
प्रयाति नूनं तनुतामनारतं
अहो प्रभावो नु तपस्विसन्निधेः ।। १६ ।।

(सर्वाः प्रणम्य यथास्थानं स्थिताः—श्रीः पूर्वस्यां दिशि दक्षिणस्यामाशा श्रद्धा पश्चिमायां ह्रीश्चोत्तरस्याम्)

कौशिकः (अवलोक्य स्वगतम्) मधुरमेतासां रूपं विचित्रामेवाऽनुभूतिं जनयति ।

यथा—

विचारभूता नु सुचारुविग्रहा
नु रम्यवेशाः पुरुषप्रवृत्तयः ।
प्रपञ्चभूता उत सत्यसंस्थिताः
स्वरूपमासामनिरूप्यमाततम् ।। १७ ।।

अथवा प्राचीं दिशमलङ्कुर्वाणामिमामित्थं पृच्छामि—

का त्वं प्रभासि प्रचुरं सुरेश्वरि !
प्राचीमिमां भासयसीव चन्द्रमाः ।
पृच्छाम्यहं काञ्चनवेल्लिविग्रहे !
आचक्ष्व मां त्वं कतमाऽसि देवता ।। १८ ।।

श्री: देवेन्द्रजा श्रीरिति विश्ववन्दिता
निष्पापनिर्दोषजनोपसेविनी ।
प्राप्ताऽस्मि तेऽहं निकटं सुधेच्छया
तां मां सुधायाः सुमते ! सुपात्रय ।। १९ ।।

अथ च,

यस्याऽहमिच्छामि सुखं महामुने !
सङ्कल्पतो मे स नरः प्रमोदते ।
श्रीनामधेयामवबुध्यतामिमां
तां मा सुधायाः सुमते ! सुपात्रय ।। २० ।।

कौशिक: अहो श्रीस्त्वमसि । अयि अविवेकिनि !

पश्यामि दुष्टानलसान् महोदरान्
तान् दुष्कुलीनांश्च कुरूपिणो नरान् ।
युक्तैस्त्वया यैरधमैरहर्निशं
दासीक्रियन्ते समुदात्तमानसाः ।। २१ ।।

श्री: किन्तु मया किं कृतम् (इत्यर्धोक्ते)

कौशिक: त्वया किं न कृतम्—

शिल्पेन विद्याऽऽचरणेन सद्धिया
लोका उपेताः प्रगुणाः सुकर्मठाः ।
हा हन्त ते सन्ति तिरस्कृतास्त्वया
तन्नाऽस्ति युक्तं यदिदं त्वया कृतम् ।। २२ ।।

अथ च,

त्वमेव मूर्खानवलम्बसे सदा
त्वमेव धीरानवमन्यसे सदा ।
भवादशी नाऽर्हति चाऽऽसनोदके
कुतः सुधा ? गच्छ न रोचसे नु ये ।। २३ ।।

(इति निष्क्रान्ता श्रीः)

कौशिकः (दक्षिणां दिशमलङ्कुर्वाणामाशां प्रति)

का त्वं शुभे ! सन्नतगात्रि ! देवता
सम्प्रेक्षसे किं हरिणीव पीडिता ।
कस्ते द्वितीयस्त्विह चारुलोचने !
एकाकिनी भासि न चाऽत्र कानने ॥ २४ ॥

आशा

आशाऽहमेषा मनुजेषु पूजिता
निष्पापनिर्दोषजनोपसेविनी ।
प्राप्ताऽस्म्यहं त्वन्निकटं सुधेच्छया
तां मां सुधायाः सुमते ! सुपात्रय ॥ २५ ॥

अथ च,

शक्रस्य कन्याऽस्मि तवाऽहमन्तिके
ह्याशा सुधाऽऽशारतचेतसाऽऽगता ।
नाऽस्ति द्वितीयस्त्विह मे महामुने !
तां मां सुधायाः सुमते ! सुपात्रय ॥ २६ ॥

कौशिकः

आशावशा यन्ति नरा धनार्थिनो
नौकां समारुह्य महार्णवं द्रुतम् ।
ते तत्र सीदन्ति कदाचिदातुरा
नाशं च गच्छन्त्यथवाप्यतर्कितम् ॥ २७ ॥

अथ च,

आशावशाः स्वर्मनसः सुखैषिणो
हित्वा च धान्यं स्वजनान् धनं तथा ।
नित्यं तपस्तच्च तपन्ति दुष्करं
दुर्मार्गमारुह्य च यान्ति दुर्गतिम् ॥ २८ ॥

अथ च,

करोषि यत्कार्यमकार्यमन्ततो
रुचिस्स्वतन्त्रा तव तत्र कारणम् ।
भवादृशी नाऽर्हति चाऽऽसनोदके
कुतः सुधा ? गच्छ न रोचसे नु मे ॥ २९ ॥

(इति निर्गच्छत्याशा)

कौशिकः (पश्चिमदिशामलङ्कुर्वाणां श्रद्धां प्रति)

जाज्वल्यमाना यशसा यशस्विनि !
त्वं पश्चिमायां दिशि काऽसि शोभने !
पृच्छाम्यहं काञ्चनवेल्लिविग्रहे !
आचक्ष्व मां त्वं कतमाऽसि देवता ॥ ३० ॥

श्रद्धा श्रद्धाऽहमेषा मनुजेषु पूजिता
निष्पापनिर्दोषजनोपसेविनी ।
प्राप्ताऽस्म्यहं त्वन्निकटं सुधेच्छया
तां मां सुधायाः सुमते ! सुपायय ॥ ३१ ॥

कौशिकः अयि श्रद्धे !

दानं दमं त्यागमथाऽपि संयमं
श्रद्धावशा एव चरन्ति मानवाः ।
स्तेयं मृषा कूटमथाऽपि पैशुनं
कुर्वन्ति ते ते ननु विच्युतास्त्वया ॥ ३२ ॥

अपि च,

निर्हंसि पुण्यं कुरुषे च पापकं
त्वमेव दुष्टे परदारसेविनी
भवादृशी नाऽर्हति चाऽऽसनोदके
कुतः सुधा ? गच्छ न रोचसे नु मे ॥ ३३ ॥

(इति निर्गच्छति श्रद्धा)

कौशिकः (उत्तरदिशि संस्थितां ह्रियमुद्दिश्य)

नित्यं प्रभाते ह्यरुणोदये शुभे
या दृश्यते यौवनरूपधारिणी ।
भद्रे ! तथा त्वं प्रतिभासि सन्ततं
आचक्ष्व मां त्वं कतमाऽसि देवता ॥ ३४ ॥

ह्रीः देव्यस्म्यहं ह्रीर्मनुजेषु पूजिता
प्राप्ता तथा त्वन्निकटं सुधेच्छया ।
साऽहं सुधां न प्रभवामि याचितुं
याञ्चा हि नो निर्वसनत्वमुच्यते ॥ ३५ ॥

कौशिकः भद्रे ! सत्यसंस्थिताऽसि । यतो हि—

धर्मः स उक्तो यदिदं न याचनं
त्वां याचनाभीरु ! ततो निमन्त्रये ।
पात्रं त्वमेवाऽसि सुधारसस्य च
प्रीत्या प्रदास्यामि यदन्यदिच्छसि ॥ ३६ ॥

अथ च,

सा त्वं मया साकमिहाऽऽश्रमे वरे
आमन्त्रिता काञ्चनवेल्लिविग्रहे !
पूज्याऽसि भद्रे ! मधुरैः रसोत्तमैस्
त्वां पूजयित्वैव सुधामहं लभे ॥ ३७ ॥

अथ प्रविशतु भवती सुधासत्कारार्थमेतस्मिन्नाऽऽश्रमाभ्यन्तरे । इत इतो भवती ।

(इति निष्क्रान्तौ ह्रीकौशिकौ)

मातलिः (प्रविश्य स्वगतम्) आदिष्टोऽस्मि भगवता मघवता यथा—मातले ! यद्यपि सर्वा अपि मदीयाः कन्या गुणेषु विश्रुता लोके प्रतिष्ठिताश्च, तथाऽपि कौशिकेन तपस्विना ह्रीरेव सम्मानिता, अन्याश्च तिरस्कृताः । येन नारदप्रतिज्ञातं पारिजातपुष्पमपि ह्रियैव समधिगतम् । तद् गत्वा जानीहि तावद् ह्रीसम्माने को हेतुः इति । (परिक्रम्य) एष कौशिकाऽऽश्रमः । प्रविशामि तावत् । (परिक्रम्याऽवलोक्य) एष भगवान् कौशिको विग्रहवतीव शान्तिः स्वाऽऽसनं समुपविशति । (उपगम्य) भगवन् एष देवसारथिर्मातलिः प्रणमति ।

कौशिकः स्वस्ति भवते । अथ किमागमनप्रयोजनं महेन्द्रसारथे : ?

मातलिः भगवन् ! सुधामुद्दिश्य भवदीयं निर्णयं श्रुत्वा प्रसन्नो विस्मयाऽन्वितश्च भगवान् महेन्द्रो भगवन्तमेवं पृच्छति—

अत्यन्तमाश्चर्यमुपागतोऽस्म्यहं
सर्वासु कन्यासु गुणैर्वरासु सा ।
पात्रीकृता ह्रीर्ननु केन हेतुना
तस्याः सुधायाः कृपया निरूप्यताम् ॥३८॥

कौशिकः सुष्ठु जिज्ञासितं महेन्द्रेण । श्रूयतां तावत्—

आढ्या नु मां श्रीः प्रतिभाति मातले !
श्रद्धा त्वनित्या शृणु देवसारथे !
आशा विसंवादितया मता हि मे
ह्रीरेव चाऽऽर्या प्रगुणे प्रतिष्ठिता ॥३९॥

अथ श्रूयतां ह्रीवैभवम्—

या याः कुमार्यो ननु गोत्ररक्षिताः
वृद्धाश्च या याः पतिदेवताः स्त्रियः ।
अस्थानरागं हृदयं यदा कदा
क्षिप्रं ह्रियैवाऽथ निवारयन्ति ताः ॥४०॥

अथ च,

वेला यथा सागरवेगवारिणी
पापात् तथा ह्रीर्मनसां निवारिणी ।
लोके ह्रियं तां भृशमार्यपूजिता-
मिन्द्राय चाऽऽवेदय देवसारथे ! ॥४१॥

मातलिः (स्वगतम्) सत्यं खलु गुणाऽगुणमीमांसायां तपस्विवर्याणामेतेषां सूक्ष्मतमा दृष्टिः । महेन्द्रस्यैतेष्वभिनिवेशः सकारणमेव । (प्रकाशम्) अनुरूपमिदं निरूपितमत्रभवता । निवेदयिष्यामि चैतत्सर्वं स्वामिने यथाऽऽदिष्टं तपस्विवर्यैः । अथ चाऽतिप्रसन्नेन तत्रभवता महेन्द्रेणैतदपि पृष्टम्—किं भूयो भवदीयं प्रियं करणीयमिति ।

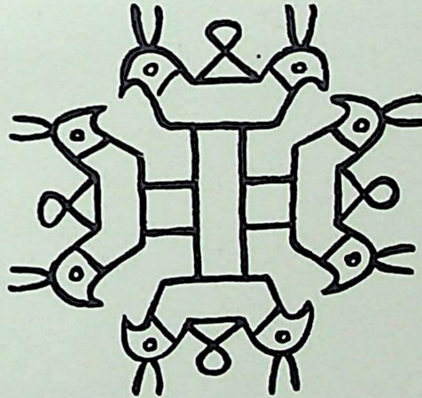
कौशिकः किं प्रियं किं वाऽप्रियं किमिष्टं किं वाऽनिष्टमित्येतस्मिन् विषये महती भ्रान्तिर्वर्ततेऽस्मदीये मनसि । (विचिन्त्य) तथाऽपि यदि सत्यं प्रसन्नो मयि तत्रभवान् महेन्द्रः परमार्थतश्च चिकीर्षति किञ्चित् प्रियमस्मदीयं तर्ह्येवमस्तु—

(भरतवाक्यम्)

भ्रान्तिः सकला यातु निर्वृतिम्
सत्तादीपो व्रजतु निर्वृतिम्
मास्तु, संशयो नैति निर्वृतिम्
निर्वृतिमयि परमाम्
कथय सखि ! हरिवसतिं दयिताम् ।
किमपि सखि ! मधुरं मधुरं माम् ॥४२॥

(इति उत्तराङ्कः)

समाप्तं सुधाभोजनम् ।



पद्यानुक्रमणिका

डॉ० अशोक कुमार कालिया

* प्रवक्ता, संस्कृत तथा प्राकृतभाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
* जन्म—२० अप्रैल १९४४
* शिक्षा—बी०ए० (ऑनर्स), एम०ए०, पी-एच०डी०
* विशेष—श्रीब्रह्मतन्त्र परकाल मठ, मैसूर के तैंतीसवें पीठाधिपति श्रीमद्भिनवरङ्गनाथपरकालस्वामी तथा वहीं के आस्थानपण्डित श्री आत्मकूरुदीक्षाचार्य से वैष्णव धर्म तथा दर्शन (विशिष्टाद्वैत) की शिक्षा।


दिव्या गीर्वाणभारती
अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ